द्वितीय अध्याय

उपासकदशाङ्गसूत्र और उपासकाचार

(क) रत्नत्रय

(ख) मार्गानुसारी के 35 बोल

(ग) व्यसन

द्वितीय अध्याय

उपासकदशाङ्गसूत्र और उपासकाचार

(क) रत्नत्रय

चाहे आगारी (गृहस्थ, श्रावक) हो अथवा अनगारी (संन्यासी, मुनि) हो, मानव जीवन की सार्थकता रत्नत्रय धारण करने में ही निहित है कारण कि विशुद्ध जीवन यापन से ही निर्मल ज्ञान (यथार्थ ज्ञान) की उपलब्धि होती है और पवित्राचरण एवं यथार्थ बोध (ज्ञान) से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है अर्थात् रत्नत्रय ही मानवमुक्ति का मार्ग है। आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने जैसे कहा भी है–रत्नत्रयमिह हेतु निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।[1]

समस्त जैन वाङ्मय रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की महिमा से अलंकृत है। मोक्षमार्ग जो है यह रत्नत्रय है–सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्ष मार्गः।[2] बौद्धदर्शन में भी रत्नत्रय-शील, समाधि और प्रज्ञा को सर्वज्ञत्व, अर्हत्व अथवा निर्वाण लाभ का मूलहेतु स्वीकार गया किया है।[3] अतएव रत्नत्रय का महत्त्व स्वतः ही सिद्ध है। यहाँ इसी रत्नत्रय का प्रकाशन करना अभीष्ट है।

रत्नत्रयरूपी मोक्षमार्ग में सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का पूर्णरूप से प्रयत्नपूर्वक आश्रय लेना चाहिए कारण कि सम्यग्दर्शन के होने पर ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् बनते हैं तथा तीनों के यथार्थ होने पर मुक्तिमार्ग प्रशस्त होता है। जैसे कि कही भी गया है–

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीमखिलयत्नेन।
तस्मिन्सत्येव यतो भवति ज्ञानं चारित्रञ्च।।[4]

विद्वान् आचार्यों की दृष्टि से सम्यग्दर्शन पर प्रकाश डाला जा रहा है–

---

1. पुरुषार्थ, श्लो० 220.
2. त०, सू०, 1/1
3. वि०म०
4. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

1. सम्यग्दर्शन

आगमों में सम्यग्दर्शन के लिए सम्यक्त्व शब्द अधिक प्रयुक्त[1] मिलता है। सम्यकत्व और मुनित्व में यहाँ कोई भिन्नता नहीं की गई है। संयमी चारित्रवान् मुनि के आचार-विचार को ही आगमों में सम्यकत्व बताया गया है। जहाँ सम्यक्त्व है, वहीं नियमत: सम्यग्ज्ञान है[2] और जहाँ यथार्थ ज्ञान-दर्शन है, वहीं निर्मल चारित्ररूप रत्नत्रय है।

जो अहिंसक, ज्ञानी और धर्मज्ञ हैं, वे सरल स्वभावी एवं अनासक्त सम्यग्द्रष्टा ही कषायों को भस्मीभूतकर कर्मों का क्षय करते हैं। ऐसे श्रद्धावान्, विश्वासी, यथार्थज्ञानी को तनिक भी शंका नहीं रह जाती, उसे कोई उपाधि भी नहीं होती, वह पापकर्मविरही निश्चित ही संसार से पार हो जाता है। इस प्रकार यहाँ यथार्थ द्रष्टा ही यथार्थज्ञानी है, सम्यग्ज्ञानी है जो वहीं सम्यग्द्रष्टा भी है।

उपासकदशांगसूत्र में सम्यक् दर्शन व सम्यक्त्व के विषय में विशद् विवेचन उपलब्ध नहीं होता, किन्तु प्रथम अध्ययन में आनन्द गाथापति द्वारा भगवान् महावीर स्वामी का उपदेश सुनने के बाद यह कहना-सद्दहामि णं भन्ते![3] हे भगवान्! मैं जिन वचनों में श्रद्धा रखता हूँ, वास्तव में यह श्रद्धा ही सम्यक् दर्शन है।

दर्शन का सीधा अर्थ है-देखना। किन्तु यह द्विविध होता है-लौकिक एवं लोकोत्तर की दृष्टि से। तत्त्व वा पदार्थ का इन्द्रिय और मन की सहायता से जो बोध किया जाता है, पदार्थ का जो देखना मात्र है-पश्यति दृश्यतेऽनेन दृष्टिमात्रं वा दर्शनम् (सर्वार्थसिद्धि, पृ० 4) वह लौकिक दर्शन कहलाता है। जो तत्त्व का आत्मगत साक्षात्कार है-दर्शनमात्मविनिश्चिति,[4] वह स्पष्ट दृष्ट, बोधपरक एवं सुखकर यथार्थ दर्शन है, यही स्थायी लोकोत्तर दर्शन ही सम्यक्दर्शन है कारण कि संसारी जीव अनादि काल से मिथ्यात्व के प्रगाढ़ बन्धनों में आबद्ध है, यदि उसे अन्तर्मुहूर्त जितने समय में पदार्थ का यथार्थदर्शन हो जाए, तो उसके भवभ्रमण की एक सीमा निश्चित हो जाती है और उस सीमा के भीतर ही उसे मुक्ति मिल पाती है।

---

1. जं सम्मति पासहा तं मोणति पासहा।
   जं मोणति पासहा तं सम्मति पासहा।। आ०, सू०, 1/5/3
2. आ०चू०अ०, उद्देशक 3.
3. उपा०सू०, पृ० 20
4. पुरुषार्थ, श्लो०, 216

यद्यपि चित्तगत विकल्पों के कारण सम्यक्दर्शन कुछ समय तक अस्तित्व में रहकर अन्तर्धान हो जाता है, फिर भी स्वल्पकाल में ही वह सम्यक्त्व आत्मा में ऐसी विशिष्टता उत्पन्न कर जाता है, जिससे आत्मा मोक्ष की अधिकारी बन जाता है। सम्यक्दर्शन की इसी महत्ता के कारण आचार्यों ने इसे धर्म का मूल स्वीकार किया है-दंसणमूलो धम्मो।[1]

विभिन्न आचार्यों ने सम्यक्दर्शन की व्याख्या भी विभिन्न प्रकार से की है। सूत्रात्मक व्याख्या आचार्य उमास्वाति की है। वहाँ तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा विशेष को सम्यक्दर्शन कहा गया है।[2]

उपासकाध्ययन में अन्तरंग व बहिरंग कारणों के रहने पर आप्त (देव), शास्त्र और पदार्थों का तीन प्रकार की मूढ़ता[3] रहित आठ अंग[4] सहित जो श्रद्धान् होता है, उसे सम्यक्दर्शन कहते हैं।[5] कार्तिकेयानुपेक्षा में भी सम्यक्दर्शन की यही परिभाषा दी है। वहाँ शास्त्र के स्थान पर धर्म कहा है-

णिज्जियदोसं देवं सव्वजिणाणं दयावरं धम्मं।
वज्जियगंथं च गुरुं जो मण्णादि सो हु सुदिट्ठी।[6]

अत: दुरभिनिवेश सहित पदार्थों का श्रद्धान हो अथवा स्वात्म प्रत्यक्षपूर्वक स्व-पर भेद का या कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक हो, वही सम्यक्दृष्टि जीव है। सम्यक्दर्शन प्राप्त करने के दस साधन हैं, जिन्हें रुचियाँ भी कहा जाता है, वे हैं-निसर्ग, उपदेश, आज्ञा, सूत्र, बीज, अभिगम, विस्तार, क्रिया, संक्षेप और धर्म।[7] कुन्दकुन्द के अनुसार सम्यक्दृष्टि वह है, जो छह द्रव्य, नव पदार्थ, पाँच अस्तिकाय

---

1. दंसण०, 2.
2. तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यक् दर्शनम्।।
   त०सू०, 1/2
3. लोक मूढ़ता, देव मूढ़ता और पाखंडी मूर्खता तथा दे० जिनसेन महा०, पृ० 122
4. निःशंकित, निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना।
5. आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं कारणद्वयात्।
   मूढ़द्योपाढमष्यकं सम्यक्त्वं प्रशमादि भाक्।।
   उपासका०, 1/48
6. कार्ति०, 317.
7. उत्तरा०, सू०, 28/16

और सप्त तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप पर श्रद्धान करे।[1] नियमसार में तीर्थंकरों, आगमों और छह द्रव्यों में विश्वास करना सम्यक्दर्शन बताया गया है।[2]

आधुनिक विद्वान् डॉ० नथमल टाटिया ने भी कहा है कि सम्यक् दर्शन चेतना की विशुद्ध अवस्था है। जो पदार्थ को यथावत् जानने की शक्ति देता है। यह ऐसी अवस्था है, जहाँ मिथ्यादर्शन नहीं रहता।[3]

इस प्रकार जिनोपदिष्ट छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है। जिसने मिथ्यात्व का पूर्णत: परित्याग कर दिया है, जो जिन, चैत्य, साधु-अर्चन से सम्पन्न है तथा जो आठ प्रकार के आचार का पालक है, वही सम्यग्दृष्टि है :-

अवउज्झियमिच्छत्तो जिणचेइयसाहुपू अणुज्जुत्तो।
आयारमट्ठभेअं, जो पालइ तस्स सम्मत्तं।।[4]

जैनों के अनुसार यह सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी महल की पहली सीढ़ी है। नरकादिक दुर्गतियों के द्वार को रोकने वाले मजबूत किवाड़ हैं। धर्मरूपी वृक्ष की स्थिर जड़ है, स्वर्ग एवं मोक्ष रूप घर का द्वार तथा शीलरूपी रत्नहार के मध्य में जटित श्रेष्ठ रत्न हैं-

सिद्धि प्रसाद सोपानं विद्धि दर्शनमग्रिमम्।
दुर्गति द्वार संरोधि कवाट पुटमूर्जितम्।।
स्थिरं धर्मतरोर्मूलं द्वार स्वमेक्षिवेश्मन।
शीलाभरणहारस्य तरलं तरलोपमम्।।[5]

अत्यन्त दुर्लभ इस सम्यग्दर्शनरूपी उत्कृष्ट रत्न को जिसने पा लिया उसने उतने ही शीघ्र से मोक्ष सुख का भी लाभ कर लिया।[6] एक मुहूर्त के लिए भी जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट कर लिया उसने निश्चित ही इस संसाररूपी बेल को काटकर उत्तम सुख धारण लिया।[7] जिस व्यक्ति के अन्तरंग में यह सम्यग्दर्शन विद्यमान है वह उत्तम

1. दंसण०, गाथा 19
2. नियम०, 5.
3. Studies in Jain Philosophy, पृ० 149.
4. सम्य०स०गा०, 3.
5. महा०, गा०, 131-132.
6. वही, गा०, 134.
7. वही, गा०, 135 : लब्धसद्दर्शनो जीवो मुहूर्त्तमपि पश्य य:।
संसारलतिकां छित्त्वा कुरुते ह्रासिनीमसौ।।

देव और मनुष्य पर्याय में उत्पन्न होता है। उसे क्षीण पुण्य वाले नारकी और तिर्यञ्च योनियों में जन्म नहीं लेना पड़ता। जिस प्रकार शरीर के हस्तपाद आदि अंगों में मस्तक प्रधान है और मुख में नेत्र प्रधान है उसी प्रकार मुक्ति के समस्त अंगों में गणधरादि देवों एवं आचार्यों ने सम्यग्दर्शन को सर्वोपरि महत्ता प्रदान की है।[1]

उपासकदशांगसूत्र के अनुसार प्रथम अध्ययन में आनन्द श्रमणोपासक को उद्बोधित करते हुए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने सम्यक्त्व के पाँच अतिचार बताए हैं, जिन्हें अवश्य जान लेना चाहिए, परन्तु आचरण नहीं करना चाहिए, वे इस प्रकार हैं-1. शंका, 2. कांक्षा, 3. विचिकित्सा, 4. परपाषण्ड प्रशंसा, 5. परपाषण्डसंस्तव।[2]

जिस प्रकार बीज के बिना वृक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चरित्र की उत्पत्ति, वृद्धि एवं स्थिति नहीं होती है-

विद्या वृतस्य सम्भूति स्थितिवृद्धि फलो दया:।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोखि।।[3]

अत एव यहां सम्यग्दर्शन के बाद यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान कर जैन दृष्टि से क्या स्वरूप है, इस पर चिन्तन किया जाता है-

2. सम्यक्ज्ञान

उपासकदशांगसूत्र में श्रावकों के वर्णन में आनन्द श्रावक के विषय में बतलाया गया है। आनन्द श्रावक जीव अजीव आदि नौ तत्त्वों का ज्ञाता था[4] अर्थात् उसे तत्त्वज्ञान हो गया था। प्रथम अध्ययन में ही आनन्द श्रावक[5] एवं आठवें अध्ययन में महाशतक श्रावक[6] को अवधिज्ञान होने की चर्चा मिलती है। अत: यहाँ जैन दृष्टि में यथार्थज्ञान, सम्यग्ज्ञान किसे कहते हैं इसे जानना परम आवश्यक है।

1. उत्तमांगमिवांगेषु नेत्रद्वयमिवानने।
मुक्त्यंगेषु प्रधानागं आप्ता सद्दर्शनं विदु:।।
वही, 139
2. (मुनि, आत्माराम) उपा०सू०, 1/40
3. रत्नकरण्ड श्रावकाचार गाथा, 32.
4. (मुनि, आत्माराम), 1/61
5. वही, 1/71
6. वही, 8/249

सम्यक्ज्ञान वही कहलाता है, जिससे आध्यात्मिक उत्क्रान्ति होती है, जिस ज्ञान से पूर्व सम्यक्दर्शन उपलब्ध होता है, जिस ज्ञान के आविर्भाव से क्रोधादि कषाय मन्द हो जाते हैं। संयम और समभाव का जिससे पोषण होता हो, चित्तवृत्तियाँ शुद्ध होती हों और जिससे आत्म-शुद्धि होती हो। वही यथार्थबोध सम्यग्ज्ञान है।

जैनधर्म में सम्यग्ज्ञान को पांच भागों में विभक्त कर महत्ता प्रदान की गई है, वे हैं–मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान और केवलज्ञान।[1] प्रारम्भ के दो ज्ञान परोक्ष होते हैं और बल्कि तीन आत्मगत होने से प्रत्यक्ष ज्ञान स्वीकार किए गये हैं।

मतिज्ञान

जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है, वह मतिज्ञान है।[2] भौतिक इन्द्रियजन्य होने से यह ज्ञान परोक्ष है। आचार्य उमास्वाति ने इसे चार प्रकार का माना है–अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।[3] पुनः इसके भी अवान्तर भेद हो जाते हैं। इस प्रकार मतिज्ञान के कुल 336 भेद मिलते हैं। इसके अधिक अध्ययन के लिए नन्दीसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र के टीका ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक इत्यादि प्रमाणिक ग्रन्थों का परायण करना अपेक्षित है।

श्रुतज्ञान

मतिज्ञान के पश्चात् जो चिन्तन मनन के द्वारा परिपक्व ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है। अतः जो ज्ञान इन्द्रियजन्य और मनोजन्य होने पर भी शब्दोल्लेख सहित है, वह श्रुतज्ञान है।[4] अतः जिनोपदिष्ट प्रामाणिक शास्त्रों का पढ़ना और सुनना ही श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान के अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट के रूप में दो भेद हो जाते हैं। इसमें से अंगबाह्य श्रुत उत्कालिक और कालिक के भेद से अनेक प्रकार का हो जाता है। अंगप्रविष्ट श्रुत आचारांग, सूत्रकृतांग आदि के रूप में बारह प्रकार का स्वीकार किया गया है।[5]

1. उत्तरा०, सू०, 28/4, न०सू०, 1.
2. (क) तदिन्द्रियानिन्द्रिय निमित्तम्।। त०सू०, 1/14
   (ख) इन्द्रियमनोनिबन्धनं मतिः।। ज०सि०, दी० 2/8.
3. (क) त०सू०, 1/15.
   (ख) न०सू०, 27.
4. त०सू०, पृ० 25.
5. श्रुतं मतिपूर्वं द्वादशभेदम्।। त०सू०, 1/20

नन्दीसूत्र में श्रुतज्ञान के चौदह भेद बताए हैं–अक्षर, अनक्षर, संज्ञी, असंज्ञी, सम्यक्, मिथ्या, सादिक, अनादिक, सपर्यवसित, अपर्यवसित, गमिक, अगमिक, अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य।[1] यह बहुविध श्रुतज्ञान भी इन्द्रियजन्य होने से परोक्ष ही स्वीकार किया गया है।

अवधिज्ञान

इन्द्रियादि की सहायता के बिना सीमा को लिए हुए रूपी पदार्थ के विषय में अन्तःसाक्ष्य रूप ज्ञान का नाम अवधिज्ञान है।[2]

अवधि ज्ञान छह प्रकार का होता है–अनुगामी, अननुगामी, वर्द्धमान, हीयमान, प्रतिपाती और अप्रतिपाती।[3]

देव और नारकियों को अवधिज्ञान जन्म से होता है[4] जबकि मनुष्य और तिर्यंचों को व्रत, नियम साधना आदि के द्वारा अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। कतिपय भव्य जीवों एवं महापुरुषों को उक्त तीन मति, श्रुत एवं अवधि ज्ञान जन्म से ही प्राप्त रहते हैं।

उपासकदशांगसूत्र में भी वर्णित है कि धर्म चिन्तन करते हुए आनन्द को एक दिन शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम और विशुद्ध लेश्या के कारण अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हो गया और अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया। यही प्रसंग महाशतक श्रावक के जीवन में भी आया।

मनः पर्ययज्ञान

बिना पूछे दूसरों के मनोगत भावों को जानना मनःपर्ययज्ञान है। प्रमाणनय तत्त्वालोकालंकार[5] में कहा गया है कि जो ज्ञान संयम की विशिष्ट शुद्ध से उत्पन्न होता है या मनः पर्यय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है और परगत मन

1. न०सू०, 37.
2. आत्ममात्रोपक्षं रूपिद्रव्यगोचरमवधिः।।
   जैन सि०दी०, 2/25
3. स्था०सू०, 6/99
4. तत्र भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्।।
   त०सू०, 1/22
5. (क) जै सि को, 111, पृ० 261.
   (ख) प्र० नयत०, 2/22

सम्बन्धी बात को जान लेना मन: पयर्य ज्ञान का कार्य है। बौद्धदर्शन में इसी ज्ञान को चेतोपरिवितर्क ज्ञान के रूप में बतलाया गया है जिसे अभिज्ञा (विशिष्ट ज्ञान) भी कहते हैं।

जैन मन:पर्ययज्ञान के ऋजुमति और विपुलमति की अपेक्षा से दो भेद मानते हैं।[1] ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मन: पर्यय ज्ञान अधिक विशुद्ध होता है, जो मन के सूक्ष्म परिणामों को भी जान सकता है।[2]

केवलज्ञान

एकमात्र अति निर्मल ज्ञान का नाम केवलज्ञान है। यह समस्त तत्त्वों का युगपत् साक्षात्कारी ज्ञान है। इसे ही सर्वज्ञत्व और कैवल्य संज्ञा से भी जाना जाता है। यह विशुद्ध, अनन्त एवं अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान होता है।[3]

केवलज्ञान की प्राप्ति आध्यात्मिक दृष्टि से उत्कृष्ट जीवों को होती है, जिन्होंने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मों का पूर्णत: विनाश कर लिया हो।[4] जैसे उष्णता हीनाधिक होते हुए भी परिणामत: सर्वोच्च स्थिति में पहुँच जाती है, वैसे ही ज्ञान विकसित होते-होते अन्तत: सर्वोच्च स्थिति रूप केवलज्ञान में परिवर्तित हो जाता है, घातिया कर्मों का पूर्ण नाश कर।[5]

केवलज्ञान सभी ज्ञानों के लिए प्रकाश है। वह बिना किसी प्रयत्न, कारण तथा स्रोत के अपने आप में परिपूर्ण है। जब केवलज्ञान का उदय होता है, तब शेष चारों ज्ञान-मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्ययज्ञान का उसी में अन्तर्भाव हो जाता है। पांचों प्रकार के ज्ञान किसी को भी एक साथ नहीं हो सकते, प्रथम चार ज्ञान एक साथ किसी एक में हो सकते हैं, किन्तु जब किसी को कैवल्य होगा तो वह एकमात्र केवलज्ञान ही होगा कारण यह है कि केवलज्ञान सवयं में परिपूर्ण है। यह आत्मा की

1. न०सू०, 31
   त०सू०, 1/24
   स्था०सू०, 2/1/71.
2. ऋजु विपुलमती मन: पर्यय:।।
   त०सू०, 1/23
3. नियम०, 167
4. (क) उत्तरासू०, 29/71
   (ख) त०सू०, 10/1
5. आ०ला०, ऑफ जै० फिलॉ, पृ० 100.

विशुद्ध उपलब्धि है।[1] इस लब्ध केवलज्ञान में सभी प्रकार के अतीत, वर्तमान और भविष्य कालीन पदार्थ हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष दिखलाई देते हैं।

साध्य की सिद्धि एवं साधुत्व की सफलता के लिए ज्ञान के साथ यथार्थ चारित्र का होना भी अनिवार्य है इसलिए अब यहाँ सम्यक्चारित्र क्या है? इसकी चर्चा करते हैं-

3. सम्यक्चारित्र

वस्तुत: चारित्र धर्म है और जो धर्म है वह साम्यभाव है यही अहित मत है। साम्य कहें या समता अथवा समत्व यह यथार्थत: मोह और क्षोभरहित आत्मा का परिणाम है-

चारित्तं खलु धम्मो
धम्मो जो सो समोत्ति णिदिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो
परिणामो अपणो हु समो।।[2]

चारित्र की उपलब्धि ही मानव जीवन की सार्थकता है। इसके द्वारा ही कषायों (क्रोध, मान, माया एवं लोभजनित प्रवृत्तियों) का उपशमन किया जा सकता है। इसके चिन्तन एवं परिपालन से यथार्थज्ञान एवं दर्शन में विशदता आती है। समस्त पापयुक्त योगों के दूर करने से ही यथार्थ चारित्र होता है। यह निर्मल होता है। इसी से वीतरागत्व में वृद्धि होने से मानव अपने परम अभीष्ट स्वरूप मोक्ष में रमण करता है।

इस प्रकार बुरे कार्यों से बचकर अच्छे कार्यों में लगना अर्थात् सत् आचरण करना सम्यक् चारित्र है। मन, वचन एवं काय से शुभ कर्मों में प्रवृति करना ही सम्यक्चारित्र है। आत्म सम्यक् चारित्र का अनुगमन तब कर सकता है, जब वह सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान से सम्पन्न हो। इस प्रकार लोकोत्तर आनन्द प्राप्ति के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को धारण करना,[3] अपने में विकसित करना अनिवार्य है। तदनन्तर ही मानव को अभीष्ट लक्ष्य की उपलब्धि हो सकती है। निर्वाण व मोक्ष प्राप्ति हो सकती है।

1. (एच०आर० कापड़िया) दा जै०, रिलि०, ए० लिट्, खण्ड-1, पृ० 104.
2. प्रवचनसार गाथा, 7.
3. त०सू०, 1/2

सम्यक्चारित्र दो प्रकार का है–निश्चय चारित्र और व्यवहार चारित्र।

(क) निश्चयचारित्र

निश्चय नय से निज स्वरूप में अविचल स्थिर होना निश्चय चारित्र है। यह उत्कृष्ट कोटि का आत्मगत चारित्र है, जो केवलज्ञान के होने पर ही दृष्टिगोचर होता है।

(ख) व्यवहारचारित्र

व्यवहार नय से पाप क्रिया के त्याग को चारित्र कहा जाता है। इसलिए इस चारित्र में व्यवहार नय के विषयभूत अनशन, ऊनोदर आदि को तप कहा जाता है। व्यवहार चारित्र–आगार चारित्र, अणगार चारित्र[1] दो प्रकार का होता है। दूसरे शब्दों में इसी को विकल चारित्र और सकल चारित्र भी कहा जाता है। सकलचारित्र महाव्रत रूप होता है और मुनियों में पाया जाता है जबकि विकलचारित्र अणुव्रत रूप है और वह श्रावकों में पाया जाता है।[2]

उपासकदशांगसूत्र में दस श्रावकों का वर्णन है, जो विकल चारित्र का पालन करते हैं।

सम्यक् चारित्र के अन्तर्गत मार्गानुसारी के 35 बोल, सप्तव्यसन त्याग इत्यादि का परिपालन करना आता है जिनका प्रकाशन आगे किया जा रहा है।

(ख) मार्गानुसारी के 35 बोल

भवार्णव से पार होने के लिए सद्गृहस्थ के लिए अत्यन्त जरूरी है कि वह अपने गुरुओं द्वारा बतलाए गये 35 नियमों का अपने जीवन में दृढ़तापूर्वक पालन करें। इन जीवनोपयोगी बातों पर अमल करने से ही त्रियोग–मन, वचन एवं काय में विशुद्धता तथा स्थिरता आती है जिससे व्रतों के धारण करने में सहायता मिलती है और पुण्य का उपार्जन होता है। चित्त दोषों से दूर रहकर एकाग्र हो जाता है। निर्मल की एकाग्रता का नाम ही ध्यान है और उत्कृष्ट ध्यान साधना एवं तप से कर्मक्षय कर अरिहन्तत्व का लाभ होता है। यहाँ सबसे पहले श्रावक के उक्त 35 मार्गानुसारी के बोल और व्यसनों का अध्ययन करते हैं जो इस प्रकार है :–

1. स्था०सू०, 2/1/107
2. पुरुषार्थ, 40.

1. न्यायसम्पन्नविभव

इसका अर्थ है–उत्तम आचरण करते हुए जीविका एवं उत्तम कार्यों व साधनों द्वारा कमाया गया वैभव (धन सम्पत्ति)। सदाचार शीलवान् सत्त्वगुण सम्पन्न धार्मिक सद्गृहस्थ स्वामिद्रोह, मित्रद्रोह, विश्वासघात और चोरी आदि निंदनीय उपायों का त्याग करके अपने–अपने वर्ण के अनुसार न्याय नीति से ही उपार्जित धन सम्पत्ति का ही भोग करता है। उसे यही करना कल्याणकारी भी समझा गया है। बौद्धदर्शन में इसे सम्यक् कर्मान्त एवं सम्यक् आजीव के रूप में स्वीकार किया गया है।

आचार्य हरिभद्र सूरि,[1] आचार्य हेमचन्द्र[2] और पण्डित आशाधर[3] ने एक स्वर में इस बात का समर्थन किया है कि गृहस्थ न्याय व नीतिपूर्वक ही अर्थोपार्जन करें। श्राद्धगुण विवरण में भी लिखा है[4] कि अन्याय से ग्रहण किए द्रव्य का कुपात्र में दान करना अत्यन्त दोषोत्पादक है। गाय को मारकर उसके मांस को बेचकर जीवन निर्वाह करना कौओं को तृप्त करने के बराबर बताया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि गृहस्थ न्यायपूर्वक धनोपार्जन न करें, तो उसके द्वारा दिया गया दान यथार्थ दान नहीं कहलाता। अतः न्यायपूर्वक धनोपार्जन से प्राप्त आय द्वारा ही जीवन-यापन करना चाहिए। आगम साहित्य में भी ऐसे सद्गृहस्थ का धम्मजीवी विशेषण कहा गया है। चाणक्यनीति में भी कहा गया है कि अन्याय व अनीति से कमाया धन दस वर्ष से अधिक नहीं चलता। वह 11वें वर्ष में समूल नष्ट हो जाता है। अतः अन्याय या कुत्सित साधनों से धन कमाने का लोभ नहीं करना चाहिए।[5]

2. शिष्टाचार-प्रशंसक

जिसने श्रेष्ठ शिक्षा प्राप्त की है, जो व्रत नियमों का पालनकर्त्ता है और जो

1. न्यायोपातं हि पित्तमुभयलोकहितायेति।
   धर्मबिन्दु०, 1.
2. न्याय सम्पन्न विभवः। योग०, 1/47
3. न्यायोपात धनोयजन् गुणगुरुन् सदगीस्त्रिवर्ग भजन्।
   सागार०, 1/11
4. अन्यायो पात्र द्रव्यस्य दानमत्यंत दोषकृत्।
   धेनुं निहत्य तन्मासै र्ध्वांक्षाणामिव तर्पणम्।।
   श्राद्ध०, 1, पृ० 37.
5. अन्यायोपार्जित वित्तं दशवर्षाणितिष्ठति।
   प्राप्तेत्वेकादशे वर्षे समूलश्च विनश्यति।।
   चाण० 15/6